खेल और शिक्षा | विचार करने योग्य कुछ बातें

सी एन सुब्रह्मण्यम्

यूनिवर्सिटी प्रैक्टिस कनेक्ट पर छपे लम्बे निबन्ध का संक्षिप्त रूप [i]

दार्शनिक और मनोविज्ञानी खेल को पूरी स्वतंत्रता के साथ की जाने वाली गतिविधि के रूप में परिभाषित करते हैं जिसका उद्देश्य उसे करने से प्राप्त होने वाले आनन्द के अलावा कुछ और नहीं होता और ऐसा करते हुए उसके बारे में कोई राय भी नहीं बनाई जाती — मज़ा लेना ही उसका उद्देश्य है। खेल अक्सर एक कल्पित दुनिया का निर्माण करता है जिसमें हमारे इर्द-गिर्द की सामान्य चीज़ों को नए अर्थ और उपयोग दे दिए जाते हैं। जहाँ एक ओर मनोविज्ञानियों ने बच्चे के बोधात्मक विकास और समाजीकरण में खेल की भूमिका पर विचार किया है, वहीं दार्शनिकों ने हमारे इर्द-गिर्द के संसार को समझने और उसके साथ रिश्ता जोड़ने में इसके महत्त्व को पहचाना है — बच्चों के लिए ही नहीं, वयस्कों के लिए भी।

पिछली एक सदी के दौरान शिकार और जंगली फल आदि एकत्रित करके जीवन-निर्वाह करने वाले समूहों के अवलोकनों में पाया गया है कि वे अपने बीच में समता की भावना को खेल और मज़ाक़ के माध्यम से मज़बूती देते हैं। इस भावना को पोषित करने के लिए वे अपने बच्चों को, उनकी देखभाल, देख-रेख या निर्देश के बिना खेलने देते हैं। बच्चों को कुछ काम-काज नहीं करने होते हैं और लगता है कि उन्होंने जो कुछ भी सीखा, ज़्यादातर खेल के माध्यम से ही सीखा, जिसमें अक्सर बड़ों के व्यवहार का अनुकरण करना शामिल रहता है। 'शिकारी-संग्रहकर्ता अपने बच्चों की शिक्षा से कुछ ख़ास सरोकार नहीं रखते। वे मानकर चलते हैं कि बच्चों को जो भी जानने की ज़रूरत है, वे आत्म-निर्देशित खोजबीन और खेल के माध्यम से ख़ुद सीख लेंगे। शिकारी-संग्रहकर्ताओं के ये बच्चे खेल के बीच ही ख़ुद की पहल से उन दक्षताओं का अभ्यास कर लेते हैं जिनकी ज़रूरत उन्हें वयस्क के रूप में अपने बचाव और सुरक्षा के लिए होगी। अपने खेल में वे उस ज्ञान, अनुभव और मूल्यों का भी अभ्यास करते और उन्हें मज़बूत करते हैं जो उनकी संस्कृति के केन्द्र में होते हैं।' (ग्रे, 2009, पृष्ठ 505) यह सही है कि ये बच्चे बड़ों की गतिविधियों में भाग लेते हैं — लेकिन ऐसा वे स्वेच्छा से करते हैं। अवलोकनकर्ताओं ने इस बात का विशेष तौर पर संज्ञान लिया है कि इन समूहों के बच्चों के खेल कभी भी स्पर्धा-आधारित नहीं होते। 'शिकारी-संग्रहकर्ताओं के खेल का मक़सद विजेताओं और पराजितों को स्थापित करना नहीं होता, बल्कि उद्देश्य मज़ा लेना होता है। मज़ा लेने की प्रक्रिया के दौरान ही खिलाड़ी ताक़त, तालमेल, धैर्य, सहयोग और व्यवहारकुशलता की दरकार वाले हुनर विकसित करते हैं और अपने मित्रता के बन्धन मज़बूत करते हैं।' (वही,पृष्ठ 514)

वेरियर एल्विन (एल्विन, 1947) के बस्तर की *मुरिया* जनजाति के अध्ययन में बच्चे अपनी ही एक दुनिया में रहते हैं जिसे *घोटुल* के रूप में संस्थागत रूप दिया गया है, जो वयस्कों की दुनिया के साथ नज़दीकी अन्तःक्रिया में तो है लेकिन उससे स्वतंत्र भी है। यह आनन्द, उल्लास, गीत-नृत्य, खेलों और नक़ल तथा गम्भीर कामों की दुनिया है। एल्विन गाने और नृत्य, खेल और अन्य 'मनोरंजनों' की व्याख्या करते हैं, जो इस बात का उदाहरण हैं कि शिक्षा और समाजीकरण की अपनी संस्थाओं की व्यवस्था और प्रबन्धन ये बच्चे स्वयं करते हैं और इस प्रक्रिया में उनके द्वारा खेल का व्यापक इस्तेमाल किया जाता है।

हमारा समाज एकल, स्तरीकृत और व्यक्तिपरक परिवारों का समाज है। ऐसे समाज में बच्चों की शिक्षा के केन्द्र-बिन्दुओं के रूप में *घोटुलों* की कल्पना करना मुश्किल लग सकता है। हमारे जैसे समाज में बच्चों की शिक्षा और समाजीकरण के संस्थागत आधार के रूप में एकल परिवार और बड़ों द्वारा निर्देशित नर्सरियाँ, किंडरगार्टन और स्कूल पक्के तौर पर स्थापित हो गए हैं। इसके बावजूद खेल अब भी बच्चे के समाजीकरण में एक अहम भूमिका निभाता है, ख़ासतौर से बड़ों की भागीदारी के साथ।

खेलते समय बच्चा ज्ञान या तर्क के संसार पर नियंत्रण नहीं कर रहा होता। वह तो संसार के साथ एक विशेष ढंग से रिश्ता बनाने वाले वयस्कों के समुदाय में बस तल्लीन हो रहा होता है। समुदाय में इस तरह मग्न होना ही बच्चे को इस लायक़ बनाता है कि वह समुदाय द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी विकसित किए गए ज्ञान, प्रतीकों, साधनों और मूल्यों का उत्तराधिकारी बन पाए। इसका अर्थ है कि 'बच्चे को अपनों में से ही एक होने दिया जाए, यानी इन्सान के जीने के तौर-तरीक़ों में भागीदार होने दिया जाए। खेल के माध्यम से हम बच्चे को अपनी भागीदारी करने देते हैं और उसे यह अनुभव पाने देते हैं कि

उस तरह का इन्सान बनना कैसा होगा जैसा इन्सान बनने की सम्भावना उसमें है।' (ऐन, 2018)

खेल का प्रयोग

प्लेटो (428-348 ईसवी पूर्व) उन शुरुआती चिन्तकों में से थे जिन्होंने बच्चों की शिक्षा में खेल के महत्त्व को पहचाना। उन्होंने शिक्षाशास्त्रियों को सलाह दी कि वे शिक्षा में बलप्रयोग से बचें और खेल का प्रयोग करें। *रिपब्लिक* में वे ज़ोर देते हैं कि द्वंद्वात्मक चिन्तन में प्रशिक्षण बचपन में ही शुरू हो जाना चाहिए। लेकिन इतना ही ज़ोर वे इस बात पर देते हैं कि बच्चों को सीखने के लिए बाध्य न किया जाए। '...शिक्षण को सीखने की बाध्यता का रूप नहीं दिया जाना चाहिए। क्योंकि...एक स्वतंत्र इन्सान को किसी भी तरह का अध्ययन दासवत्‌ होकर नहीं करना चाहिए। ज़बरदस्ती की गई जिस्मानी मेहनत से शरीर की हालत बदतर नहीं होती लेकिन ज़बरदस्ती किया गया अध्ययन व्यक्ति में बना नहीं रहता...इसलिए,... बच्चों की पढ़ाई के प्रशिक्षण में बल प्रयोग न करें, बल्कि खेलें। इससे आप इस बात को भी बेहतर देख पाएँगे कि प्रत्येक बच्चा स्वाभाविक तौर पर किस ओर प्रवृत्त है।'

खेल को बाध्यता, ज़बरदस्ती और दासवृत्ति की शब्दावली के साथ भेद करते हुए रखा गया है। ज़बरदस्ती या बाध्यता को दासता के बराबर माना गया है। इसकी बजाय खेल की सिफ़ारिश की गई है, जिसका निहितार्थ यह है कि खेल की स्थितियों में बच्चे अपनी मनमर्ज़ी से सीखेंगे और सीखे हुए को आत्मसात्‌ करेंगे।

लेकिन प्लेटो बच्चों को ज़िम्मेदार और आज्ञाकारी नागरिकों के तौर पर शिक्षित करने की सेवा में खेल के सब तत्वों को उलट देते हैं। बच्चों के खेल को उसके तत्वों — स्वायत्तता, आनन्द, निरुद्देश्यता, रचनात्मकता, धारणाएँ न बनाना — से विहीन करके खेलकूद का ऊपरी खोल भर रहने दिया जाता है, मानो बच्चों को झाँसा देने के लिए ऐसा किया गया हो।

स्कूली शिक्षक और शिक्षाशास्त्रियों को मौजूदा शैक्षिक तौर-तरीक़ों में प्लेटो के विचारों की गूँज फ़ौरन सुनने को मिलेगी। बच्चे खेलना पसन्द करते हैं न कि शिक्षक के निर्देशन में पढ़ाई। इसलिए शिक्षक कुछ ऐसे आनन्ददायक खेलों की संरचना कर सकते हैं जिनसे बच्चों को नियमों के पालन में प्रशिक्षित करने का और उनमें वयस्कों के शिल्पों या व्यवसायों के अभ्यास हेतु आवश्यक दक्षताएँ विकसित करने का शिक्षाशास्त्रीय उद्देश्य पूरा होता हो। सार रूप में यह 'प्ले वे' पद्धति है जिसकी वकालत लोकप्रिय शैक्षिक बुद्धिमत्ता के तहत की जाती है।

यूरोप में आधुनिकता के पदार्पण के साथ ही काम और खेल के बीच एक तीखे अन्तर ने लोकप्रिय कल्पना को घेर लिया। इसके तहत काम को एक उत्पादक गतिविधि के रूप में और खेल को रसास्वादन की गतिविधि के तौर पर देखा गया। यह औद्योगीकरण का ज़माना भी था जब काम में लगातार एक विलगाव की अवस्था बनती जा रही थी। मेहनतकश वर्ग के बच्चे बहुत ही भयानक क़िस्म के उबाऊ और जटिल कामों में उत्तरोत्तर घसीटे जा रहे थे। इससे एक ऐसा सन्दर्भ बन आया कि बच्चों के लिए एक उत्कृष्ट और बहुत ही हर्षजनक गतिविधि के रूप में खेल की याद फिर से ताज़ा हो आई। फ्रीड्रिक फ्रोबेल (1782-1852) इस बात के बहुत सशक्त पैरोकार थे कि खेल को बहुत छोटे (किंडरगार्टन की उम्र के) बच्चों के लिए सीखने के एक मूलभूत तरीक़े के रूप में प्रयोग किया जाए। फ्रोबेल के लिए बच्चों का खेल 'इन्सान की सबसे पवित्र, सबसे आत्मिक गतिविधि' थी और 'समूचे मानव जीवन का प्रातिनिधिक रूप — इन्सान तथा सभी चीज़ों के छुपे हुए प्राकृतिक जीवन का रूप।' (बीटि, 2017, पृष्ठ 425)। उनकी इच्छा तो खेल को शिक्षा की प्रमुख पद्धति के रूप में विकसित करने की थी लेकिन अन्ततः एक ऐसी नई रूढ़िवादिता विकसित हुई जिसमें बच्चों को शिक्षक के निर्देशन में बहुत अधिक व्यवस्थित, संरचनाबद्ध खेल खेलने होते थे।[ii]

जॉन ड्यूई ने अपने लैबोरेटरी स्कूल के 'सब-प्राइमरी डिपार्ट्मेंट' के लिए फ्रोबेल के सिद्धान्तों को अपनाया लेकिन उन्हें अपनी पाठ्यचर्या की वास्तविक रूपरेखा से हट कर पाया और अन्ततः उन्होंने उन सिद्धान्तों को बहुत हद तक बदला।[iii] ड्यूई खेल को स्कूली शिक्षा में शामिल किए जाने की वकालत करने वाले प्रमुख लोगों में से थे, ख़ासतौर से बहुत छोटे बच्चों के लिए। उन्होंने खेल के महत्त्व को काफ़ी ज़ोर देते हुए रखा : "बच्चों की अनगिनत स्वतःस्फूर्त गतिविधियाँ, खेल, नाटक, नक़्क़ाली की कोशिशें, यहाँ तक कि बिल्कुल छोटे बच्चों की निरर्थक दिखने वाली हरकतें भी — ऐसी प्रदर्शित बातें जिन्हें पहले तुच्छ, व्यर्थ या बिल्कुल बुरा मानकर अनदेखा कर दिया जाता था — शैक्षिक प्रयोग के क़ाबिल हैं; बल्कि वे शिक्षा के तौर-तरीक़े के नींव के पत्थर हैं।"[iv]

ड्यूई ने खेल की समझ को अपना ही अर्थ प्रदान किया कि यह केवल बाहरी तौर पर दिखाई देने वाली गतिविधि न होकर ऐसा कुछ था जिसका सम्बन्ध पूरे मानसिक रवैए से था। "यह बच्चे की सभी शक्तियों, विचारों और जिस्मानी हरकतों का स्वतंत्र तौर पर सक्रिय होना और अन्तःक्रिया में आना है, जो एक सन्तोषजनक रूप में उसकी ख़ुद की छवियों और रुचियों को मूर्त रूप देता है।"

ड्यूई के लिए खेल और काम के बीच कोई पक्के तौर पर खिंची हुई रेखा नहीं थी। वे इन दोनों को निरन्तरता में, बहुत आराम से, सहज तौर पर एक-दूसरे में बहते हुए देखते थे। अन्य लोगों द्वारा काम और खेल के बीच की उस पक्की लकीर को

वे नकारते थे जो काम को उद्देश्यपूर्ण और खेल को उद्देश्यहीन मानते हुए खींची जाती है। ड्यूई के लिए दोनों का उद्गम भीतर से उपजे आवेग से, अन्त:प्रेरणा से था न कि बाहर से डाले गए दबाव या दायित्व से। उनके लिए खेल और काम बाहरी जीवन के दो मुख्य पहलू थे जिन्हें वे औपचारिक शिक्षा के विलगाव को समाप्त करने के लिए प्रयोग करना चाहते थे।

ड्यूई का बल इस बात पर था कि 'शुरुआत बच्चे की ओर से होनी चाहिए' — एक शिक्षक अगर उसे अपने विचारों को विकसित करने के लिए कुछ मॉडल दे, तो भी स्वतंत्र रहने और विकसित होने के लिए बच्चे को ख़ुद के बिम्ब-चित्रण में लौटना चाहिए। सभी गतिविधियाँ "बच्चे को चेतना और क्रिया के उच्चतर स्तर तक ले जाएँ न कि उसे बस उत्तेजित करके वहीं छोड़ दें जहाँ वह था" (ड्यूई, 1915)। *डेमोक्रसी एंड एजूकेशन* में वे इस बात को और भी अधिक स्पष्टता के साथ कहते हैं: "...ये बातें शिक्षा के अधीन होंगी — यानी बौद्धिक, चिन्तनशील परिणामों के और समाजीकृत मनोवृत्तियाँ बनने के अधीन।"

इस प्रकार ड्यूई आधुनिकता की उस चिन्ता से मुक्त नहीं थे जो बचपन को बड़ों की निगरानी, सुरक्षा या निर्देशन के बिना अपनी राह बनाने के लिए छोड़ दिए जाने से जुड़ी है।[v] आख़िरकार तो, आधुनिक नागरिक-समाज या ड्यूई का लोकतांत्रिक समुदाय ऐसे नागरिकों से ही बना था जिन्हें भागीदारी पर आधारित, व्यवस्थित लोकतन्त्र के लिए समाजीकृत किया गया था और जिसके लिए व्यक्ति की ओर से सामाजिक नियंत्रण हेतु स्वैच्छिक स्वीकृति की आवश्यकता थी।

बचपन को लेकर चिन्ता काफ़ी हद तक सामाजिक झगड़ों और तनावों को क़ाबू करने में असफलता तथा समाज में शान्ति और न्याय सुनिश्चित करने की नाकामयाबी के एहसास से पैदा होती है। इस चिन्ता की जड़ शायद इस बात में है कि इन झगड़ों का असर बच्चों तक पहुँचता है। उदारीकरण के बाद के युग में सामाजिक असमानताएँ अभूतपूर्व स्तरों तक बढ़ चुकी हैं और कुछ गिने-चुने कॉरपोरेट घरानों द्वारा उत्पादक संसाधनों पर नियंत्रण एक लोकतांत्रिक समाज के सपने को चकनाचूर कर रहा है। ऐसे में व्यापक मानवजाति के लिए उपलब्ध एकमात्र पूँजी को पाने की दौड़ रफ़्तार पकड़ लेती है — यह अक्षरज्ञान और अंकज्ञान तथा औपचरिक शिक्षा की सांस्कृतिक पूँजी को पाने की दौड़ है।

भारतीय शैक्षिक व्यवहार में खेल

कुल मिलाकर देखें तो भारत की स्कूली प्रणाली बहुत हाल के समय तक स्कूल-पूर्व आयु को दरकिनार करती रही है। यह कुछ समय से ही हुआ है कि बच्चों को 'स्कूल के लिए तैयार करने' हेतु उनका समाजीकरण सुनिश्चित करने के लिहाज़ से नर्सरी और किंडरगार्टन की भूमिका को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगा है। इसका अर्थ था बच्चों को भरी हुई कक्षाओं में 'चुपचाप' बैठकर शिक्षक के आदेशों का पालन करने के लिए अनुशासित करना तथा औपचारिक स्कूलों में दाख़िले से पहले उन्हें अक्षरज्ञान और अंकज्ञान की दक्षताओं से लैस करना। उन्हें इस संसार में आने के लिए लुभाने के मक़सद से खिलौनों, खेलों, गीतों आदि का प्रयोग किया गया। जैसा कि स्कूल-पूर्व *(प्री-स्कूल)* शिक्षा में 'प्ले-वे' का सर्वेक्षण करने वाले एक शोधकर्ता ने रूखेपन से इस बात को दर्ज किया, "भारत में प्री-स्कूल गम्भीर कारोबार है।" (प्रॉक्नर, 2002, पृष्ठ 446)। इस बाबत सहृदय नीति घोषणाएँ बार-बार की गईं लेकिन इसके बावजूद महिला और बाल कल्याण विभागों द्वारा चलाई जाने वाली आरम्भिक शिशु देखभाल प्रणाली का शिक्षा से सम्बद्ध हिस्सा अस्तित्वहीन रहा है। या फिर, पढ़ना और गिनना सिखाने की एक बुरी कोशिश भर रहा है। प्रभावी तौर पर इसका अर्थ है कि खेल उस जगह से ग़ायब है जहाँ उसे देखे जाने की सबसे अधिक आशा की जा सकती थी, यानी स्कूल-पूर्व शिक्षा में। हमारे प्राइमरी और उससे आगे के स्तरों पर तो खेल के लिए इससे भी कम जगह रही है। ज़्यादा-से-ज़्यादा 'खेलों' का एक पीरियड होता है जिसमें बच्चे नियमबद्ध खेल खेलते हैं।

लेकिन बच्चे तो बच्चे हैं और खेल के लिए जगह ढूँढ़ ही लेते हैं। वे 'शिक्षा' से खेलने के लिए समय चुरा लेते हैं, बच्चा बना रहने के लिए। हाल के समय तक पाठ्यचर्या और बच्चों से अपेक्षाएँ ऐसी थीं कि बच्चों को ख़ुद के साथ, भाई-बहनों के साथ या मित्रों, पड़ोसियों तथा वयस्क रिश्तेदारों के साथ भी, खेलने के लिए गुंजाइश बनी रहती थी। यही वह जगह और गुंजाइश है जिसके लिए शिक्षा और मनोरंजन के हालिया रुझानों के बीच प्रतिस्पर्धा है — वह शिक्षा जो भविष्य के मेहनतकश को वैश्विक पूँजी और मनोरंजन की सेवा के लिए तैयार करे ताकि मौजूदा उपभोक्ता को घेरा जा सके। ऐसे में खेलकूद, विद्यार्थी और उपभोक्ता को वैश्विक पूँजी और राष्ट्र-राज्य की सेवा हेतु लुभाने के लिए एक चिकना-चुपड़ा आकर्षक माध्यम बन जाता है।

1990 के दशक से विश्व स्तर पर इस मक़सद से विशाल अभियान चलाए गए कि खेल और मनोरंजन को साक्षरता के प्रचार-प्रसार के लिए इस्तेमाल किया जाए। इसके लिए 'प्ले-वे' या 'जॉय ऑफ़ लर्निंग' या 'लर्निंग इज़ फ़न' [यानी 'खेल-खेल में शिक्षा' या 'सीखने का आनन्द' या 'सीखना मज़ेदार है'] जैसे तौर-तरीक़ों को लाया गया। प्रारम्भिक साक्षरता के स्तरों पर कक्षा में की जाने वाली प्रक्रियाओं के रूप में खेल के नज़दीक मानी जाने वाली गतिविधियों की सिफ़ारिश की जाने

लगी थी। तुकान्त कविताएँ गाना, सामान्य खेल, ठोस वस्तुओं को जोड़-तोड़ करके खिलौनों (टीएलएम — सीखने-सिखाने की सामग्री) के तौर पर काम में लाना आदि केवल सम्भ्रान्त स्कूलों तक सीमित नहीं रह गए थे। साधारण सरकारी स्कूलों में अनुबन्ध पर काम करने वाले शिक्षकों को भी इन्हें व्यवहार में लाते देखा जा सकता था। इससे कक्षाओं के माहौल में बदलाव आया और बच्चों को आकर्षित करने में मदद मिली। लेकिन यह मुलम्मा जल्द ही लुप्त होता चला गया क्योंकि स्पष्ट होने लगा कि इससे 'उपलब्धि' सुनिश्चित करने में या मानक परीक्षणों में स्कूलों के अंक बढ़ाने में, कुछ वास्तविक मदद नहीं मिलती थी।

अब एक नई दौड़ शुरू हुई। यह थी वर्णमाला और गणन-प्रक्रियाओं के परीक्षण-संचालित 'निशानाबद्ध' शिक्षण की दौड़, जिसका मक़सद यह सुनिश्चित करना था कि बच्चे पूर्व-अनुमानित परीक्षाओं में सफल हो पाएँ। उच्च कक्षाओं में बच्चों पर 'अध्ययन, ट्यूशन और होमवर्क' पर लगने वाले समय में वृद्धि का दबाव बढ़ने लगा। सर्वव्यापी इम्तिहानों, टेस्टों और 'प्रोजेक्ट कार्यों' की तैयारी का दबाव भी बढ़ने लगा। इससे बच्चों के लिए इत्मीनान का वह समय भी चुरा लिया गया जो खेल में जा सकता था। इसके बाद आइटी उद्योग द्वारा मुहैया करवाए गए डिजिटल खेलों, टीवी कार्यक्रमों और आभासीय समुदायों द्वारा इसकी पूर्ति की जाने लगी।

स्पष्ट ही है कि इन दोनों परिघटनाओं में एक विशेषता साझी है। ये खेल का चोला पहन कर बच्चों का ध्यान आकर्षित करने, शिक्षा के नाम पर उन्हें दिमाग़ी और शारीरिक तौर पर अनुशासित करने, उनकी संवेदनाओं और आसपास के वास्तविक जीवन से उनके सम्बन्ध को बेहद सरलीकृत करके उनका स्तर गिराने का काम करती हैं — और यह सब होते हुए वे तेज़ी से फलते-फूलते बाज़ार में, स्वतंत्र दिखाई देते उपभोक्ताओं के रूप में, हिस्सेदारी कर रहे होते हैं।

वयस्क संसार और बच्चों के खेल

बाक़ी गतिविधियों के विपरीत, खेल एक आत्म-निरीक्षणशील गतिविधि हो सकता है। यह खेल है क्योंकि खेलने वाले को मालूम होता है कि वह खेल रहा या रही है। इससे यह मदद मिलती है कि आप जो कुछ कर रहे हैं, वह करते हुए भी ख़ुद को उससे अलग रख पाएँ, उस पर सोच पाएँ। इससे अन्ततः एक ऐसी मानसिकता बनाने में मदद मिलती है, जिसमें व्यक्ति ख़ुद को बहुत गम्भीरता से नहीं लेता [यानी खेल को खेल की तरह से लेना और ऐसा करते हुए ख़ुद को गम्भीरता से न लेना]। वयस्कों को भी अपना मानसिक सन्तुलन बनाए रखने के लिए खेल की ज़रूरत ज़्यादा नहीं तो उतनी तो होती है जितनी कि बच्चों को।

छोटे बच्चों के लिए इसके चाहे कुछ भी लाभ हों, खेल का शिक्षाशास्त्रीय प्रयोग बड़ों को यह याद दिलाने का एक तरीक़ा है कि खेल के संसार में कैसी-कैसी अद्भुत ख़ुशियाँ हैं। बच्चों को खेलते हुए देखना, उनके खेल में भाग लेना और खेल की याद ताज़ा करना इस महत्त्वपूर्ण ज़रूरत को पूरा करने का एक तरीक़ा है। इससे हमें स्कूल के शिक्षाशास्त्र में खेल के प्रयोग के लिए सुराग़ मिलता है।

एक शिक्षक के लिए खेल के 'इस्तेमाल' का सबसे बेहतर तरीक़ा है प्रयास करना और बच्चों के खेल में प्रवेश करना सीखना तथा उसमें भाग लेना। इसका कोई छोटा रास्ता नहीं है। पहले तो ज़रूरत है कि बच्चे, स्कूल की परिस्थिति में और शिक्षक की उपस्थिति में अपनी स्वायत्तता तथा खेल शुरू करने की पहल के बारे में आश्वस्त महसूस करें। दूसरी ज़रूरत यह है कि बच्चों के खेल में बराबर के भागीदार के रूप में शामिल होने के लिए शिक्षक अपने संकोच को त्यागे और उन पर कोई भी शिक्षाशास्त्रीय उद्देश्य न थोपे।

क्रिस्टफ़र जोसफ़ एन (2018) एक ऐसे नज़रिए के हक़ में दलील देते हैं जिसमें खेलते हुए वयस्कों और बच्चों की 'संयुक्त एकाग्रता' बच्चों को इस रूप में सक्षम बनाए कि वे संसार को समझ पाने और उसके साथ अन्तःक्रिया में रहने के लिए पेचीदा मानसिक उपकरण हासिल कर पाएँ। यह तर्कयुक्त शिक्षण नहीं है बल्कि बच्चे की पहल से प्रारम्भ की गई, एक कल्पित संसार में सक्रिय साझा भागीदारी है। इससे बच्चे को संसार में एक विवेकशील और स्वायत्त एजेंट के रूप में अपनी स्थिति को समझने में मदद मिलती है। बच्चे के माध्यम से, देखभाल करने वाले वयस्क तथा स्वयं बच्चे द्वारा, संयुक्त तौर पर संसार की खोजबीन के लिए एक पृष्ठभूमि तैयार होती है। वे भाषाई और बुद्धिसंगत साधन भी साझा करते हैं और चीज़ों को मूल्य तथा अर्थ प्रदान करने के तरीक़े भी हासिल करते हैं। बच्चा देखता, सुनता, चीज़ों को पकड़ता और चखता है। ऐसा करते हुए वह संसार की आनन्द भरी जाँच-पड़ताल कर रहा होता है। जब यह सब कुछ एक वयस्क के साथ मिलकर हो रहा होता है तो ज्ञान, मूल्यों, अर्थों और आस-पास की वस्तुओं के इस्तेमाल के तरीक़ों को लेकर उनके बीच अन्तःक्रियात्मक आदान-प्रदान होता है। खेल के लिए बच्चे में कल्पना का होना एक मुख्य क्षमता के रूप में आवश्यक है। साथ ही, बच्चों के खेल में बड़ों की भागीदारी इस रूप में मददगार होती है कि सही ढंग से सोच-विचार करने और नैतिकता के साथ निर्णय लेने के तौर-तरीक़ों में बच्चों का समाजीकरण हो पाता है। ऐसे तौर-तरीक़े हमें अपनी स्वायत्तता और स्वतंत्रता के प्रयोग में विवेकशील तथा ज़िम्मेदार बनते हैं।

खेल के एक साझा गतिविधि बन जाने और उस पर 'संयुक्त ध्यान और भागीदारी' होने पर ही वह एक शिक्षाशास्त्रीय साधन बनता है, जिसके सहारे बच्चे अपने आसपास की दुनिया को समझने के साथ ही बराबरी के स्तर पर वयस्क समुदाय में प्रवेश कर सकते हैं।

खेल के लिए फिर से समय को हाथ में लेना

हमारे नवउदारवादी युग में यह चिन्ता बढ़ रही है कि बच्चे उतना नहीं सीख रहे या ले रहे जितना उन्हें सीखना या लेना चाहिए और ऐसा लगता है कि स्कूली शिक्षा में खेल की स्थितियाँ बनाने की सम्भावना भी घटती ही जा रही है। स्कूली शिक्षा वैसे भी राज्य और बाज़ार द्वारा बहुत अधिक नियंत्रित है — इस हद तक कि वह एक स्वतंत्र जगह नहीं हो सकती। आवश्यकता है कि इन नियंत्रणों से आज़ाद एक जगह और समय के लिए संघर्ष हो ताकि वयस्क और बच्चे, दोनों खेल के ऐसे संसार में प्रवेश कर सकें जो उद्देश्य से मुक्त, मज़े के लिए और आज़ादी का भाव लिए हुए हो। कई मायनों में, पिछली सदी में मेहनतकश वर्ग द्वारा 'आठ घण्टे का दिन' के लिए किया गया संघर्ष अब अति-आदर्शवादी स्वप्न की तरह लगता है लेकिन हमारे जीवन में खेल की वापसी के प्रोजेक्ट के लिए कई तरह से इसका केन्द्रीय महत्त्व है। हाँ, यह अब निरन्तर पुराने समय की, कालभ्रम की बात लगती है क्योंकि पिछले सालों में 'दफ़्तर के समय' और 'दफ़्तर के स्थान', व्यक्तिगत समय और जगह, तथा बाज़ार और घर के बीच की सरहदें बच्चों और वयस्कों, दोनों के लिए धुँधला गई हैं। यह बात मध्य वर्ग के लिए भी सच्ची है और 'स्वरोज़गार' वाले मज़दूरों के विराट वर्ग पर भी लागू होती है। इस काल में राज्य और पूंजी द्वारा हमारे अस्तित्व के हर क्षेत्र में घुसपैठ हो रही है और उसे क्षीण किया जा रहा है। ज़रूरत यह सोचने की है कि किन तरीक़ों से हम मानसिक और शारीरिक तौर पर आज़ाद हो सकते हैं। इसलिए, स्वतंत्रता हेतु इस संघर्ष में वयस्कों के लिए भी खेल एक कुंजी की तरह है।

व्यावहारिक और यथार्थवादी बात शायद यह हो कि औपचारिक तौर पर संस्थाओं के साथ प्रतिबद्ध स्थानों और वक़्तों के अलावा समय और स्थान (वे चाहे कार्यस्थल हों या स्कूल) तलाशे जाएँ। यह इवान इलीच के इस सुझाव से मेल खाती बात है कि सीखने के सामुदायिक स्थान स्कूलों से बाहर बनाए जाएँ। नतीजतन, इन स्थानों में विभिन्न आयु-समूह के लोग खेल की गतिविधियों में शामिल होंगे। साथ ही सीखने की सुविचारित गतिविधियों भी होंगी।

लेकिन हम औपचारिक जगहों को भी हाथ से जाने न दें। रचनात्मकता की ही तरह खेल भी एक ऐसी शै है, जिसकी ज़रूरत राज्य और बाज़ार को बनाए रखने के लिए है। हम पाठ्यचर्या को विकसित किए जाने में विनोदप्रियता और चंचलता को शामिल करने के तरीक़े तलाश सकते हैं। मिसाल के तौर पर, 'ऐसा हो तो क्या हो' के इर्द-गिर्द चर्चाएँ जिनमें एक ऐसे संसार के बारे में कल्पना की जाए जिसमें किसी नियम या प्रतिमान को तोड़ा जाता हो — क्या हो अगर मैं राजा होऊँ तो,या दो और दो पाँच, पाँच और पाँच सात हों तो? औपचारिक पाठ्यचर्या के हिस्से के तौर पर 'ऐसा हो तो' की स्थितियों को विस्तार दिया जा सकता है ताकि वैकल्पिक, काल्पनिक, आभासी संसारों की चंचलता भरी जाँच-पड़ताल को सम्भव बनाया जा सके। हाँ, यह अन्दाज़ा लगा पाना मुश्किल है कि यह अभ्यास किस हद तक खेल के क्षेत्र में रहेगा और कब एक भारी कार्य बन जाएगा।

खेल पूरी तरह से मानसिक गतिविधि नहीं है। यह बहुत ही इन्द्रियगत और आनन्ददायक गतिविधि है जिसमें भौतिक वस्तुओं का व्यवहारकुशल जोड़-तोड़ शामिल है जिसके साथ ही इन वस्तुओं के परम्परागत अर्थ तबदील हो जाते हैं। इस तरह, खेल के लिए दैहिक गतिविधि के माध्यम से अपने आसपास के भौतिक संसार के साथ सम्बन्ध बनाने की आवश्यकता होती है। असल में तो चीज़ों की बहुतायत और समृद्धता से हम खेल के लिए प्रेरित होते हैं। शायद हमारी कक्षाओं को इतना खाली इसलिए रखा जाता है क्योंकि बहुलता में चीज़ों के मौजूद होने से बच्चे और शिक्षक खेल के संसार में भटक सकते हैं। जब वक़्त और आज़ादी हो, तो भिन्न-भिन्न तरह की वस्तुओं से सामना होने पर बच्चे — और बड़े भी — बहुत आसानी से खेल की ओर जा सकते हैं।

अगर ऐन्द्रिय आनन्द और कल्पना खेल के दो छोर हैं तो स्वतंत्रता और आनन्द के भाव उसे प्रेरित करते हैं। जब किसी बच्ची को कक्षा में खिड़की से बाहर देखते हुए दिवास्वप्न की अवस्था में पाया जाता है, तो समझ लीजिए कि वह खेलने की अपनी आज़ादी को इस्तेमाल में ला रही है। आज़ादी से आनन्द का पीछा करना अन्ततः हमें एक नया संसार बनाने में मदद देगा — आज का मायाजाल आने वाले कल का यथार्थ हो सकता है।

टिप्पणियाँ

i. सी एन सुब्रमण्यम, 'Sovereignty, Pleasure, Illusion and Play' https://practiceconnect.azimpremjiuniversity.edu.in/sovereignty-pleasure-illusion-and-play-part-i/

ii. फ्रोबेल को बच्चों के काल्पनिक खेलों ने इस बात पर बल देने के लिए प्रेरित किया कि गतिविधियों में प्रतीकात्मकता का इस्तेमाल किया जाए और वास्तविक चीज़ों के उपयोग से बिलकुल सख़्ती से बचा जाए। इसकी बजाय उन्होंने काल्पनिक वस्तुओं के प्रयोग पर ज़ोर दिया। मान्यता यह थी कि काल्पनिक वस्तुएँ बच्चों में कल्पनाशक्ति को उत्प्रेरित करने का काम करती हैं।

iii. फ्रोबेल के तरीक़ों को लेकर ड्यूई के आलोचनात्मक विश्लेषण के लिए देखें उनकी पुस्तक 'स्कूल एंड सोसायटी' के अध्याय-5 के रूप में शामिल किया गया उनका व्याख्यान 'फ्रोबेल्ज़ एजूकेश्नल प्रिंसिपल्ज़' (फ्रोबेल के शैक्षिक सिद्धान्त)। ड्यूई ने बाहर से थोपे गए व्यवस्थित खेलों को, गतिविधियों में प्रतीकों की अन्धपूजा को और स्कूल-पूर्व स्तर पर विषयवस्तुओं की बहुतायत को ख़ारिज किया।

iv. ड्यूई, 'फ्रोबेल्ज़ एजुकेश्नल प्रिंसिपल्ज़'। ड्यूई ने फ्रोबेल के काम में से जो तीन मुख्य सिद्धान्त निकाले यह उनमें से एक था।

v. प्रसिद्ध एवं प्रशंसित गुजराती शिक्षाशास्त्री गिजुभाई बधेका ने अपने काल्पनिक स्कूल में खेलने वाले बच्चों के वृत्तान्त में इस सम्भावना को प्रदर्शित किया है कि एक कक्षा किसी शिक्षक के मार्गदर्शन के बिना हॉब्स की 'प्राकृतिक अवस्था' में पहुँच सकती है। वे एक बुद्धिमान शिक्षक के मार्गदर्शन में खेल को एक महत्त्वपूर्ण शैक्षिक तरीक़े के रूप में इस्तेमाल किए जाने की वकालत करते हैं। देखें, दिवास्वप्न, भाग 1, खण्ड 7।

References

Barbara Beatty. 2017. 'John Dewey's High Hopes for Play: *Democracy and Education* and Progressive Era Controversies over Play in Kindergarten and preschool education' in *The Journal of Gilded Age and Progressive Era* 16. p. 425.

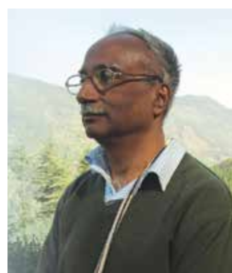
Christopher Joseph An. 2018. 'On learning, playfulness and becoming human' in *Philosophy*, 93, 1.

John Dewey. 1915. 'Froebel's Educational Principles'. Chapter 5 in *The School and Society*. Chicago: University of Chicago. 111-127.

Larry Prochner. 2002. 'Preschool and Playway in India', in *Childhood*, Vol 9(4) p. 446.

Peter Gray. 2009. 'Play as a Foundation for Hunter-Gatherer Social Existence' in *American Journal of Play*, Spring, pp 476-522.

Verrier Elwin. 1947. The Muria and Their Ghotul, Oxford University Press, London.



सी एन सुब्रह्मण्यम् 'एकलव्य' में सामाजिक विज्ञान की शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत रहे हैं। सेवानिवृत होने के बाद वे होशंगाबाद, मध्य प्रदेश में रहते हैं। उनसे subbu.hbd@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।
अनुवाद : रमणीक मोहन